



जलवायु परिवर्तन से निपटने के प्रयास

— रजनीश

“पिछले कुछ सालों में गर्मी कितनी बढ़ी है?”

अगर आपका जलवायु परिवर्तन की बहसों, अखबारों या सामान्य ज्ञान के अन्य सूचना स्रोतों से अच्छा रिश्ता नहीं है और आप खुद पहले से इस तरह की जानकारी संग्रहित करने की इच्छा से प्रेरित नहीं रहे हैं तो आपका क्या जवाब होगा! ज़ाहिर सी बात है — “बहुत।”

आज जलवायु परिवर्तन या साधारण सी भाषा में कहें तो मौसम के बदलते मिजाज़ पर विशेषज्ञ आंकड़ों की भाषा में बात करते हैं पर जो इससे सबसे ज़्यादा प्रभावित हैं उनके पास आंकड़े नहीं हैं, शायद वो इस आंकड़ों की भाषा को समझते भी नहीं हैं, परन्तु उनके अनुभव, अनुभूति आंकड़ों की तुलना में जलवायु परिवर्तन को समझने के लिए कहीं ज़्यादा सशक्त हैं। इस “बहुत” शब्द के भी कितने मायने हो सकते हैं इसे उनके अनुभवों से बहुत अच्छे ढंग से समझा जा सकता है।

तमाम दुनिया के देश कार्बन उत्सर्जन, बढ़ती गर्मी की भयावहता पर बहस और निदान के समझौते के लिए करोड़ों रुपये खर्च करके बहस करते हैं और नतीजा ढाक के तीन पात सरीखा निकलता है, 7 से 18 दिसम्बर 2009 तक चली कोपेनहेगन वार्ता इसका ताज़ातरीन उदाहरण है। यह सुनना थोड़ा अजीब लगता है कि इस वैश्विक मुद्दे के कारण पर तो तमाम देश एकमत हैं परन्तु निदान के प्रयासों पर एकमत नहीं हो पाते। सारे देश कम होती कृषि उत्पादकता, लुप्त होती प्रजातियों, बढ़ते जा रहे खाद्य संकट जैसे तमाम बिंदुओं की बात करते हैं, निदान के लिए वन संरक्षण, जल संरक्षण, कार्बन उत्सर्जन में कमी की बात करते हैं पर आंकड़ों में बात करने वाले ये सभी देश निश्चित आंकड़ों में अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त नहीं

करते। इसमें आड़े आ जाती है विकास की गति। कोई भी अपनी तथाकथित विकास की गति से समझौता नहीं करना चाहता चाहे वह विकसित देश हों या फिर विकासशील। परिवर्तन हर कोई चाहता है पर अपेक्षा यह है कि पड़ोस से परिवर्तन शुरू हो। ठीक उसी तरह जैसे कहा जाता है कि हर कोई चाहता है कि भगतसिंह पैदा तो हो पर अपने नहीं पड़ोसी के घर में।

सन् 1972 से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जलवायु परिवर्तन पर प्रारंभ हुई बातचीत 2009 तक कई चरणों, समझौतों से गुज़र चुकी है। वैश्विक तपन की समस्या 2009 तक आते-आते आम आदमी की जिंदगी के सवाल में बदल चुकी है और इसके साथ ही बदल चुकी है वैश्विक आर्थिक राजनीति के केन्द्र बिंदु के रूप में भी। आज मालदीव की सरकार समुद्र के भीतर जाकर और नेपाल सरकार हिमालय के तल में बैठकर अपने समाप्त हो रहे अस्तित्व को बचाने की गुहार लगा रही है तो अन्य विकासशील देश अपने तथाकथित विकास का राग अलाप रहे हैं। और विकसित देशों के हाथ में कार्बन क्रेडिट का हथियार है जिसे वो विकासशील, अल्पविकसित देशों के सामने झुनझुने की तरह बजाने की तैयारी में हैं।

1972 में रियोडिजेनेरियो में हुए पृथ्वी सम्मेलन के बाद से लेकर आज तक इस वैश्विक तपन के लिए जिम्मेदार जिस कार्बन उत्सर्जन की बात की जाती रही है, और 1997 में हुए क्योटो समझौते, जिसमें कि कार्बन उत्सर्जन को कम करने का बिन्दु प्रमुख था (यह भी एक विडम्बना है कि जिस बिन्दु पर समझौता 1997 में हुआ वह कुछ ज़िद्दी देशों के चलते 2005 में लागू हो पाया) के बावजूद इन 37 सालों में कार्बन उत्सर्जन की मात्रा बढ़ी ही है। जिन देशों की ऐतिहासिक जिम्मेदारी बनती है उन्होंने हर क़रार को निभाने में कोताही की है। कारण सिर्फ एक ही है कि कोई भी अपनी विकास की प्रक्रिया से समझौता नहीं करना चाहता। सैद्धांतिक रूप से माना जाता है कि ग्रीन हाउस गैसों का अधिक उत्सर्जन वैश्विक और स्थानीय जलवायु के चक्र में परिवर्तन का कारण है, जिससे सूखा और बाढ़ जैसी आपदाओं की आवृत्ति बढ़ी है। दुनिया भर के देश अब इस फ़िक्र में हैं कि इस संकट की रफ़्तार को कम कैसे किया जाए बिना विकास प्रक्रिया को बाधित किए। दरअसल जलवायु परिवर्तन का मूल कारण हमारे विकास का ढांचा और विकास की परिभाषा है। जिस तरह की पर्यावरणविरोधी औद्योगिकीकरण और आर्थिक विकास की नीतियों को दुनियाभर की सरकारें प्रोत्साहन देती रही हैं उसने लोगों को सुविधाभोगी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। और इसी सुविधाभोगी जीवनशैली का मोह कार्बन उत्सर्जन की मात्रा को बढ़ाता और जलवायु परिवर्तन के संकट को विकराल करता गया है। अब सवाल यह उठता है कि क्या हम विकास की इन्हीं परिभाषाओं और नीतियों के साथ चलते हुए इस संकट को कम कर सकते हैं?

विकास की गति और कार्बन उत्सर्जन में कमी तमाम देशों के लिए सर्वाधिक चिंता का विषय रहा है। जब भी कार्बन उत्सर्जन में कमी की बात आई सभी देशों ने अपनी विकास की गति की भी बात रखी है। और इस संदर्भ में विकासशील देशों ने क्योटो प्रोटोकॉल में वर्णित समान किन्तु विभेदीकृत जिम्मेदारी के सिद्धांत का हवाला दिया है। सैद्धांतिक रूप से यह बात सही भी है कि विकासशील देशों को अपने विकास का अधिकार मिलना चाहिए। तय हुआ कि ऐसे देशों के विकास के लिए विकसित देश मदद करेंगे परंतु उत्सर्जन में कमी का समझौता बरकरार रहेगा। और फिर शुरू हुई अंतर्राष्ट्रीय स्तर की राजनीति और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार – कार्बन क्रेडिट, क्योंकि जलवायु परिवर्तन के मामले में ईमानदार कदम उठाने का सीधा तात्पर्य है अपने विकास की गति को धीमा करना, इसलिए रास्ता निकाला कार्बन क्रेडिट यानि तुम क्रेडिट कमाओ हम तुमसे खरीद लेंगे। सीधा-सीधा मतलब हम अपने उत्सर्जन में कमी नहीं करेंगे, हमारे बदले तुम करो, हम पैसे देकर भरपाई कर लेंगे। विकासशील देशों को आर्थिक सहयोग की दृष्टि से भले ही यह तर्क उचित हो परन्तु कार्बन उत्सर्जन की जिम्मेदारी निभाने की दृष्टि से और जलवायु परिवर्तन के संकट को कम करने की दृष्टि से यह तर्कसंगत और न्यायसंगत नहीं है। दरअसल पृथ्वी सम्मेलन से लेकर कोपेनहेगन सम्मेलन तक विकासशील और विकसित देशों के बीच मुख्य मतभेद अपनी विकास की गति का ही रहा है। सोचने वाली बात यह है कि आखिर यह कौन-से और किसके विकास की गति है? क्या दुनिया में रहने वाले कुछ सम्पन्न लोग ही विश्व हैं? कम से कम भारत के संदर्भ में तो यह बात साफ समझी जा सकती है कि हम किन विकास सिद्धांतों की बात कर रहे हैं। क्या जलवायु परिवर्तन का प्रकोप सबसे ज्यादा झेलने वाले वर्ग का इस विकास प्रक्रिया में कहीं दखल है। दूसरी ओर यह भी कि आज जब जलवायु परिवर्तन पर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हाय-तौबा मची हुई है तो राष्ट्रीय स्तर पर क्या प्रयास किये जा रहे हैं। चूंकि भारत विकासशील देशों की अगुवाई भी कर रहा था और निश्चित रूप से जलवायु परिवर्तन के चलते गंभीर रूप से प्रभावित होने वाले देशों में से एक है इसलिए अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर भारत की प्रतिबद्धता की बात करना लाजिमी है।

यह तो स्पष्ट है कि विकास के जिन मूल्यों की बात की जाती है हमारी विकास की परिभाषा और प्रयासों से उन्हें स्थापित कर पाना अभी भी सपने की बात ही है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर यह बात बहुत प्रमुखता से कही जा रही है कि इस संकट से निपटने और एक नज़रिया बनाने के लिए विकास की परिभाषा और प्राथमिकताओं पर पुनर्विचार करने की बुनियादी ज़रूरत है और जवाबदेही एक अनिवार्य आवश्यकता। ठीक बात है, पर सवाल वही है – करेगा कौन? 1997 में क्योटो सम्मेलन हुआ, 2005 में क्योटो प्रोटोकॉल लागू हुआ, 2012 में समयावधि

समाप्त हो जाएगी। अभी तक हुआ क्या ? जिन ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन 20 साल पहले के स्तर पर लाना था उनके उत्सर्जन में 14 प्रतिशत की और बढ़ोत्तरी हो गई।

सारे देश विकास का हल्ला तो खूब कर रहे हैं पर जीवन शैली की बात कहीं सुनाई नहीं देती, जबकि विकास और जीवन शैली का बहुत नज़दीकी रिश्ता है। विकास के साथ-साथ जीवनशैली बदलती ही है। परंपराएँ, रहन-सहन, खान-पान सब कछु बदलता है। जलवायु परिवर्तन का हमारे प्राकृतिक संसाधनों पर जो प्रभाव है सो तो है ही पर उसके लिए हमारी बदलती संस्कृति भी जिम्मेदार है। आई.पी.सी.सी. के अध्यक्ष आर.के. पचौरी का कहना है कि “हमारे खान-पान की बदलती संस्कृति ने भी जलवायु परिवर्तन में बड़ी भूमिका निभाई है। मांस के उपभोग को इसमें शामिल माना जाए। एक किलो मक्का के उत्पादन में 900 लीटर पानी लगता है परन्तु भैंस के एक किलो मांस के उत्पादन में 15,500 लीटर पानी की जरूरत होती है। पशुधन को अब मांस के नज़रिये से ज़्यादा और कृषि, पर्यावरण व आजीविका के नज़रिये से कम देखा जाता है। दुनियाभर के अनाज उत्पादन का एक तिहाई का उपयोग मांस के लिए जानवर पालने में होता है। एक व्यक्ति एक हैक्टेयर जमीन से सब्जियाँ, फल व अनाज उगाकर 30 लोगों के लिए भोजन की व्यवस्था कर सकता है किन्तु अगर इसी का उपयोग अण्डे, मांस, जानवर के लिए किया जाता है तो केवल 5 से 10 लोगों का ही पेट भर सकेगा।”

यह बहुत स्पष्ट है कि सिर्फ विकास नीतियों में बदलाव ही काफी नहीं होगा। आने वाले समय में जिन गंभीर समस्याओं के आने की संभावना व्यक्त की जा रही है, जिनकी झलकियां यदा-कदा दिखने भी लगी हैं, उनसे निपटने के लिए जीवनशैली में बदलाव की भी उतनी ही जरूरत होगी। आई.पी.सी.सी. की चौथी रिपोर्ट इस बात को प्रमुखता से उजागर भी करती है। निश्चित ही यह बदलाव भी कठिन होगा क्योंकि आराम-तलबी का गंभीर रोग सबको लग चुका है और जब तक यह समझ विकसित नहीं होगी कि उपभोक्तावादी व्यवहार भी जलवायु परिवर्तन के मूल कारणों में से एक है तब तक इस रोग का इलाज संभव नहीं। फिर इसमें एक बात यह भी है कि “यथा राजा तथा प्रजा”। जब 1997 से लेकर आज तक मुखिया अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त नहीं कर पाए तो लोग कैसे इतनी आसानी से बदलाव को अपना लें।